

## प्राचीन भारतीय न्याय—व्यवस्था

डॉ. अर्चना पाण्डेय\*

इस संसार में चारित्रिक रूप से शुद्ध मनुष्य दुर्लभता से प्राप्त होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य से प्रभावित मानव परस्पर एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रयास करता रहता है तथा इस प्रयास के फलस्वरूप पारस्परिक वैमनस्य का प्रादुर्भाव भी होता है। अतः किसी मनुष्य ने यदि दूसरे मनुष्य के अधिकार को हरण करने का प्रयास किया तो उस मनुष्य को दण्ड और अन्य मनुष्यों को अपने अधिकार की रक्षा करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। इसी प्रणाली को विकसित करने के लिए न्याय—व्यवस्था की स्थापना की गई। वैदिक साहित्य में यद्यपि न्यायालय, न्यायाधीश आदि का विवरण प्राप्त नहीं होता तथापि अपराधों का उल्लेख अवश्य किया गया है। तत्पश्चात् उत्तर—वैदिक काल में मध्यस्थों तथा अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रों के काल तक एक पूर्ण विकसित और प्रासंगिक न्याय—व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है।

### न्याय—व्यवस्था की आवश्यकता—

ऋग्वेद से लेकर जातक युग तक न्याय एवं दण्ड व्यवस्था राजा तक सीमित थी। राजा न्यायालयों में बैठकर साक्षी तथा धर्म के आधार पर मनुष्य को न्याय तथा दण्ड देता था। न्याय और धर्म एक दूसरे के पूरक माने जाते थे तथा धर्म को आधार मानकर ही न्याय दिया जाता था। महर्षि शुक के अनुसार राजा को नित्य धर्म की रक्षा के लिए दण्ड देना चाहिए क्योंकि दण्ड के भय से ही प्रजा अपने कार्यों में लिप्त रहती है। लोग किसी दुर्बल पर अत्याचार नहीं करते, असत्य का भाषण नहीं करते, दुष्ट दुष्टता छोड़ देते हैं, चुगलखोर जुबान बन्द कर देते हैं और आततायी डर जाते हैं।<sup>1</sup>

महाभारत में भी ऐसा कहा गया है कि राजा दण्ड के सहारे अव्यवस्था को प्रेरणा देने वाले कारणों को उत्पन्न होने से निषिद्ध करता है। अगर वह ऐसा न करे तो सबल दुर्बल को नष्ट कर देंगे।<sup>2</sup> अर्थशास्त्र के अनुसार भी लोक यात्रा समुचित रखने की इच्छा रखने वाले राजा को सदैव दण्ड उद्यत होना चाहिए।<sup>3</sup> क्योंकि दण्ड पर ही आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता इन सभी विद्याओं की सुख और समृद्धि निर्भर करती है।<sup>4</sup> इस दण्ड विधान के द्वारा ही राजा सर्वप्रथम तो उपद्रवों को शान्त करने की चेष्टा करता था और अपराधियों को दण्ड भी देता था। दण्ड को इतना महत्त्वपूर्ण मानने पर भी तत्कालीन विचारकों ने साम, दाम और भेद के द्वारा शिष्ट—कर्म का सम्पादन असम्भव होने पर ही दण्ड का आश्रय लेना उपयुक्त माना है।

### न्याय—पद्धति—

प्राचीन भारत में वैदिक काल से ही न्याय तथा कानून दोनों का प्रशासन राजा द्वारा ही किया जाता था। जिस प्रकार राजा प्रशासनिक कार्य स्वयं ना करके मन्त्रिगणों की सहायता से किया करता था। उसी प्रकार न्याय—व्यवस्था के लिए सभा और सभ्यों की व्यवस्था की गयी थी। किस व्यक्ति को किस अपराध का कितना दण्ड मिलना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिए राजा राजपुरुष की नियुक्ति करता था। वह सभी मामलों की सुनवाई राजमहल में अपने मन्त्रियों तथा परामर्शदाताओं के सामने करता था। धीरे—धीरे जब समय बीतने के साथ सामाजिक—व्यवस्था में स्थिरता आ गयी तो न्याय विभाग के संगठन के साथ—साथ न्यायिक प्रक्रिया का भी विकास हुआ।

### न्यायालयों के प्रकार—

वैदिक काल में न्याय करने का कार्य सभा का था। ऋग्वेद में सभा से सम्बन्धित दो शब्दों का प्रयोग किया गया है— किल्बिषस्पृत् तथा पितुषणिः। किल्बिषस्पृत् से पाप, अशिष्ट व्यवहार अर्थात् आधुनिक भाषा में फौजदारी के मुकदमें तथा पितुषणिः से अन्न आदि के मुकदमें सुलझाये जाते थे।<sup>5</sup> अथर्ववेद में सभा को नरिष्ठा कहा गया है। जिसका अर्थ है— जिसके निर्णय को कोई टाल नहीं सकता।<sup>6</sup> यजुर्वेद से यह ज्ञात होता है कि सभा में भी कभी—कभी अनुचित या दोषपूर्ण निर्णय हो जाते थे। इसके लिए पूरी सभा को दोषी माना जाता था तथा प्रायश्चित्त के लिए अनेक प्रकार के यज्ञों का भी विधान था।<sup>7</sup> अथर्ववेद के एक मन्त्र में संकेत मिलता है कि प्रत्येक सदस्य को सभा में अपना मत देने का अधिकार था।<sup>8</sup> स्मृतियों के अनुसार न्यायालय चार प्रकार के थे— 1) राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी 'सभा', 2) पूण, 3) श्रेणी, 4) कुल।<sup>9</sup> 'साहस' नामक मुकदमों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के मामलों का फैसला कुल, श्रेणी एवं गण करते थे किन्तु अन्तिम निर्णय राजा का ही मान्य था।

शुक ने बताया है कि न्याय व्यवस्था में दो प्रकार के न्यायालय थे— (1) गैर सरकारी स्थानीय न्यायालय, (2) राजा द्वारा स्थापित एवं संगठित सरकारी न्यायालय। स्थानीय न्यायालयों की कुल, श्रेणी तथा गण तीन शाखाएँ उपलब्ध थी जिन्हें सरकार द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक न्याय करने की मान्यता थी।<sup>10</sup> कुल के अपने निजी आचार—विचार तथा नियम थे और वे सबसे छोटे तथा महत्त्वपूर्ण संस्था माने गये थे जिन्हें अपने नियमों को मानने की तब तक स्वतंत्रता थी जब तक कि वे राज्य के नियमों का उल्लंघन न करें। किसी भी प्रकार यदि कुल न्यायालय के निर्णय में त्रुटि रह जाए तो श्रेणी न्यायालय में अपील की जा सकती थी।<sup>11</sup>

शुकनीति में राजा की न्याय सभा को सर्वोच्च न्यायालय के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>12</sup> महर्षि की न्याय व्यवस्था में प्रारम्भिक अधिकार वाले न्यायालयों के विरुद्ध अपील किसी अन्य न्यायालय में करने की व्यवस्था नहीं दृष्टिगोचर होती है। राजा को न्यायसभा द्वारा दिया गया प्रत्येक अर्थ एवं मृत्युदण्ड

अपने आप में अन्तिम और सर्वमान्य होता था किन्तु न्याय सभा मामले की लघु तथा दीर्घता के आधार पर कई बार पुनर्विचार कर सकती थी।<sup>13</sup>

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों का वर्णन मिलता है—

(1) धर्मस्थीय, (2) कण्टक शोधन। धर्मस्थीय न्यायालय में व्यक्तियों के पारस्परिक मामले, आपस में किये गये संधियों सम्बन्धी मामलों, स्वामी के अधिकार तथा कर्तव्य, मृतकों के अधिकार तथा कर्तव्य, दासों के मामले, ऋण, धन को अमानत रखने, क्रय-विक्रय, दिये गये धन को न लौटाने, डाके या चोरी, हमला करने, गाली, कुचन तथा मानहानि, बिना अधिकार के सम्पत्ति बेच देना, अधिकार के मामले, स्त्री धन, विवाह तथा सम्पत्ति के बँटवारे, उत्तराधिकार, चारागाहों, खेतों तथा मार्गों को हानि पहुँचाने तथा न्यायालय में स्वीकृत कार्यवाही तथा निर्णयावधि समबन्धी विवाद का समाधान किया जाता था।<sup>14</sup>

कण्टक शोधन के अन्तर्गत शिल्पियों और कारीगरों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा के विवाद, व्यापारियों की रक्षा, राष्ट्रीय तथा सामाजिक विपत्तियों के निराकरण, अनैतिक उपायों से आजीविका चलाने वालों के दमन, गुप्तचरों द्वारा अपराधियों की गिरफ्तारी, संदेह या वास्तव में अपराध करने पर गिरफ्तारी, मृत की परीक्षा, प्रश्नों तथा कष्टों से अपराध का कारण पता करना, सरकारी विभागों की रक्षा तथा नियन्त्रण, अंग को काट देने की सजा या जुर्माना, बलात्कार तथा मर्यादाओं सम्बन्धी विवादों का निराकरण किया जाता था।<sup>15</sup>

#### न्याय के अधिकारी—

वैदिक युग में सभा के सदस्यों को 'पितृ' कहा जाता था।<sup>16</sup> ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से यह ज्ञात होता है कि सभासदों के लिए सभेय तथा सभ्य शब्द भी प्रचलित थे।<sup>17</sup> अथर्ववेद में 'सत्रसद' शब्द को भी पाँच भेद बताए गए हैं—

- 1) प्रयाज— जो यज्ञ तथा सामूहिक उत्पादन के कार्यों के संचालक होते थे।
- 2) अनुयाज— जो प्रयाज के सहभागी थे।
- 3) हुतभाग— जो कि सामूहिक उत्पादन के कार्यों की उपलब्धि में हिस्सा लेते थे।
- 4) आहुताद— जो न भाग लेते थे न हि हिस्सा।
- 5) पंचप्रदिशः— जो पंचायतों के अधिकारी थे।<sup>18</sup>

मनु का कथन है कि राजा न्याय सम्बन्धी कार्यों के निर्णयार्थ तीन सदस्यों वाली सभा का गठन करें। ये सदस्य राजा द्वारा अधिकृत तथा विद्वान होते थे।<sup>19</sup> याज्ञवल्क्य के अनुसार ऐसे गुणों तथा चरित्र वाले व्यक्ति को ही सभा का सदस्य बनाएँ जो मीमांसा व्याकरण का ज्ञाता हो, वेदों तथा धर्मशास्त्रों का ज्ञान रखता हो, सत्यवादी हो तथा शत्रु और मित्र सभी को समान दृष्टि से देखता हो।<sup>20</sup> कात्यायन ने भी सभा के सदस्यों के लिए ऐसे ही गुणों का उल्लेख किया है।

महाभारत में व्यवहार कर्मों अर्थात् न्याय कार्यों के लिए नियुक्त किये जाने वाले व्यक्तियों के निर्वाचन में अत्यन्त उदारता तथा निष्पक्षता का आश्रय लिया गया है। शान्ति पर्व के अनुसार राजा को चार विविध विद्या विशारद, प्रगल्भ,

सात्विक एवं शुचि ब्राह्मण, तीन विनीत और शुभ कर्म शूद्र, धन्यधान्य से सम्पन्न एक्कीस वैश्य तथा एक अष्टगुण समन्वित, पचास वर्षीय वाक् पटु, पुराणवेत्ता सूत, इन सब लोगों का एक मन्त्रिमण्डल बनाना चाहिए<sup>21</sup> तथा इन सबकी राय से जो बात निश्चित हो उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहिए।<sup>22</sup>

शुक्र ने गैर सरकारी न्यायालय के अधिकारियों का विवरण नहीं दिया है किन्तु सरकारी न्यायालय में सभा के सभ्यों की ही भाँति न्यायाधीशों की संख्या तीन, पाँच तथा सात बतायी है।<sup>23</sup> इन न्यायाधीशों को व्यावहारिक, बुद्धिमान, चरित्रवान, शील, शत्रु तथा मित्र से समान भाव वाला, धर्मज्ञ, सत्यवादी, आलस्य रहित, काम, क्रोध तथा लोभ से रहित तथा प्रियभाषी होना चाहिए।<sup>24</sup>

उपरोक्त सभी अधिकारियों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में राजा को ही न्याय का अन्तिम एवं सर्वोच्च अधिकारी माना गया है।

प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था की विवेचना तथा अध्ययनोपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आधुनिक भारतीय न्याय-व्यवस्था मूलरूप से प्राचीन समय से चली आ रही न्याय विधानों तथा दण्ड स्वरूपों पर ही विकसित हुई है। प्राचीन भारत के समान आज भी न्याय-व्यवस्था का लक्ष्य नागरिकों के पारस्परिक संघर्षों को दूर करते हुए उनमें अच्छे आचरण की उत्पत्ति करना तथा व्यवस्था बनाये रखना था। प्राचीन भारत में निचले स्तर से लेकर सर्वोच्च न्यायालय तक जाने वाले क्रमबद्ध न्यायालयों के विभाजन का अनुसरण आधुनिक न्याय-व्यवस्था में पंचायतों, जिलों न्यायालयों, उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय के रूप में किया गया है। प्राचीन भारत की ही भाँति आज भी वादी द्वारा शिकायत दर्ज करवाना, उसका पूरा विवरण लेना, प्रतिवादी के लिए सम्मन जारी करना, साक्ष्य तथा साक्षियों को समक्ष लाना, दण्ड देना आदि न्यायिक प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है तथा बहुमत में निर्णय लिया जाता है। प्राचीन भारत की ही भाँति आधुनिक भारत में भी कानून व्यवस्था राज्य का आधार है। किसी भी संस्था अथवा व्यक्ति को कानून तथा न्याय-व्यवस्था के ऊपर नहीं माना गया है तथा राजा की सर्वोच्चता के स्थान पर निर्विवाद रूप से संविधान की सर्वोच्चता को स्वीकार करते हुए उसे कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका से भी उच्च स्थान प्रदान किया गया है।

इस प्रकार आधुनिक विश्व की स्थिति पर चिन्तन करके हम पाते हैं कि किस प्रकार हमारी आधुनिक न्याय-व्यवस्था की स्थापना तथा उत्पत्ति में प्राचीन वेदों, स्मृतियों, महाकाव्यों तथा कौटिल्य और शुक्र जैसे विद्वानों द्वारा लिखित व्यवस्था का योगदान रहा है तथा उन्हीं की इस व्यवस्था का अनुसरण तथा विकास करके आधुनिक काल की सफल तथा सुव्यवस्थित न्याय-व्यवस्था तथा दण्ड-विधान को अस्तित्व में लाया गया है।

## सहायक ग्रन्थ-सूची

1. अथर्ववेद संहिता – शंकर पाण्डुरंग पंडित, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-1989
2. ऋग्वेद संहिता – गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, लोकभारती, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, 2009
3. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्- वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पंचम संस्करण, 2006
4. मनुस्मृति – डॉ० राम निहोर पाण्डेय, प्राच्य विद्या संस्थान इलाहाबाद, प्रथम सं० 2003
5. याज्ञवल्क्यस्मृति – डॉ० गंगासागर राय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2007
6. महाभारत- पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय, गीता प्रेस, गोरखपुर, 12वाँ संस्करण
7. वाल्मीकि रामायण- गीता प्रेस, गोरखपुर, 36वाँ संस्करण
8. शुक्रीतिसार – स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, राधा प्रेस, कैलाश नगर, दिल्ली-2008
9. यजुर्वेद – संस्कृत भाष्य उन्वट महीधर, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

## सन्दर्भ :-

1. क्रूराश्च मार्दवं यान्ति दुष्टा दौष्ट्यं त्यजन्ति च..... अतो दण्डधरो नित्यं स्यान्नृपो धर्मरक्षणे ॥ शुक्र० 4/48-49
2. दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥ महा०शान्ति पर्व 15-30
3. तस्यामायत्ता लोकयात्रा। तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्। कौ०अर्थ० 1/3/1
4. आन्वीक्षकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। कौ०अर्थ० 1/3/1
5. सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन, सभासाहेन सख्या सखायः किल्बिषस्पृत् पितृषणिहर्षेषभारं हितो भवति वाजिनेषु ॥ ऋग्वेद-10/71/10
6. विद्य ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि। ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवासचः ॥ अथर्ववेद-7/13/1/2
7. यदग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यच्छुद्धे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्यार्थं धर्माणि तस्यां वयजनमसि...। यजुर्वेद – 20/17
8. अहम् वदामि नेतृत्वं, सभायामह त्वंवद। अथर्ववेद-7/36/7
9. नृपेणाधिकृताः पूगा श्रेणयोऽथ कुलानि च। पूर्व पूर्व गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम् ॥ याज्ञ० 2/30
10. राज्ञा ये विदिताः सम्यक् कुलश्रेणिगणादयः साहसस्तेयवज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम् ॥ शुक्र० 4/5/29

11. विचार्यश्रेणीभिः कार्यं कुलैर्यन्न विचारितम्। गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्तकैः। शुक्र० 4/5/30
12. कुलादिभ्योऽधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोऽधिकः कृतः। सर्वेषामधिको राजा धर्माधर्मनियोजकः। शुक्र० 4/5/31
13. तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्यते विधर्मतः। द्विगुणं दण्डमाधाय पुनस्तत्कार्यमुद्धरेत् ॥ साक्षिसभ्यावसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः। स्वचर्चावसितानां च प्रोक्तः पौनर्भवो विधिः ॥ शुक्र० 4/5/266-267
14. धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धिसंग्रहणद्रोणमुखस्थानीयेषु व्यावहारिकानार्थान् कुर्युः। कौ०अर्थ० 3/1/56-57
15. प्रदेशस्त्रयस्त्रयोऽमात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः। कौ०अर्थ 4/1/76
16. येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु। अथर्ववेद 6.12.9
17. ( I ) सभेयोविप्रः। ऋग्वेद 2.24.13  
( II ) सभेयो युवा। यजुर्वेद 22/22
18. त्वां विशो वृणतां राज्याय, त्वामिमाः प्रदिशः प×च देवी। अथर्ववेद 3.4.2
19. सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिवृत्तः। सभामेव प्रविश्याग्रयामासीनः स्थित एव वा ॥ यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः। राज्ञाश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभा विदुः ॥ मनु० 8/10-11
20. श्रुताध्ययनसंपन्ना, धर्मज्ञा सत्यवादिनः। राज्ञा सभासदः कार्या, रिपौ मित्रे च ये सभाः ॥ याज्ञ० व्यव०-2
21. चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातका×शुचीन्.... अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ॥ महा०श०प० 85/7-11
22. ततः सम्प्रेषयेद् राष्ट्रे राष्ट्रियाय च दर्शयेत्। अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥ महा०श०प० 85/12
23. निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः। राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥ शुक्र० 4/5/17
24. व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः। रिपौ मित्रे सभा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥ शुक्र० चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातका×शुचीन्.... अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ॥ महा०श०प० 85/7-11
24. ततः सम्प्रेषयेद् राष्ट्रे राष्ट्रियाय च दर्शयेत्। अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥ महा०श०प० 85/12
24. निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः। राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥ शुक्र० 4/5/17
24. व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः। 4/5/16